



हिंदी दलित उपन्यासों में दलित वर्ग के स्वतंत्र अस्तित्व की प्रतिष्ठा

चरत सिंह

गांव—कोटली जिला सिरसा, हारियाण, भारत

प्रस्तावना

दलित मजदूर पिस रहा है गाँव में भी और शहर में भी। चारों तरफ की अव्यवस्था का सीधे—सीधे असर मजदूर, किसान तथा दस्तकार वर्ग पर ही पड़ता है। गरीबी झेलना उनकी अब नियति बन गयी है। 'मिट्टी की सौगन्ध' उपन्यास की शीला के शब्दों में — "गरीब तो रोज की मरता है बाबू..... गरीब की परवाह कौन करता है।" उनका दीन—हीन अवस्था का साक्षी उपन्यास 'अल्मा कबूतरी' में कदमबाई का कथन दृष्टव्य है — "हमारे पास न मरो को कफन, न जिंदो को लत्ता....."।¹

आदमी की पहचान उसकी जाति से होती है। जाति के अनुसार ही उसे समाज में मान—सम्मान मिलता है। छुआछूत ऐसी बीमारी है जो कोढ़ में खाज का काम करती है। भगवान ने जब सभी को दो हाथ, दो पैर, मुँह और सभी का रक्त लाल दिया है तो फिर उसमें कोई छोटा—बड़ा कैसे हो सकता है? लेकिन स्वर्ण आज भी दलितों की परछाई से दूर भागता है। उसे अछूत समझा जाता है। 'वीरांगना झलकारी बाई' उपन्यास में वर्ण—विषमता पर तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त हुई है — "सभी रियासतों और रजवाड़ों में छुआछूत थी। कहीं अधिक उग्र रूप था तो कहीं कम। फर्क सिर्फ यही था। हर जगह आदमी की पहचान उसकी जात से होती थी। उसी के आधार पर उनका मान सम्मान होता था।" ² 'हजार घोड़ों का सवार' उपन्यास में मालकी भी अपनी सहेली से यही बात कहती है कि अछूत घर में जन्म लेने से अच्छा है, किसी दूसरी योनि में जन्म लेना — "सच डावड़ी (बेचारी) यदि मिनख जूण में किसी को जलम लेना है तो वह बामण, बाणिया या रजपूत के घर में ही जलम ले। चमार, धानक, साँसी, भंगी, थोरी के घर में पैदा होने से तो अच्छा है कि पाखी—पखेरू की जूण में पैदा हो। छुआछूत का बखेड़ा तो नहीं रहेगा।"³

दलितों से छुआछूत की भावना का जिक्र 'मुक्तिपर्व' उपन्यास में भी देखने को मिलता है कि किस तरह दलितों को जानवर से भी बदतर समझते थे — "माथे पर तिलक लगाते थे, जनेऊ पहनते थे, चोटी रखते थे, गाय को माता कहते थे, सर्प को दूध पिलाते थे, कुत्ते को अपनी गोद में बिठाते थे, पर दलितों की परछाई से भी दूर रहते थे। उन्हें जानवरों, कीड़ों—मकोड़ों से प्रेम था पर दलितों से वे घृणा करते थे।"⁴

छुआछूत का यह जाल स्वर्णों ने इस कदर फँसाकर रखा है कि अस्पृश्य इसे अपनी नियति की मान बैठे हैं। 'यथाप्रस्तावित' उपन्यास में बालेसर की घरवाली भी स्वर्णों द्वारा सतायी हुई ऐसी ही औरत है जिसे स्वर्णों ने अनेक जख्म दिये हैं। दलित की सिगड़ी से निकला धुआँ तक ऊँची जाति के लोगों को अपवित्र कर देता है इस बात को बालेसर की घरवाली कुछ यूँ व्यक्त करती है — "इन्हीं कमबख्तों के मारे रात—दिन अन्दर बन्द रहते हैं। बाहर निकलते तक नहीं। सिगड़ी भी बाहर जलाते हैं तो ये इसी तरह चिल्लाते हैं और नहीं तो पास—पड़ोसवाले ही निकलकर गाली—गुफ्तार करने

लगते हैं। जैसे इनकी सिगड़ी बिना धुएँ के जलती हो। हमारी सिगड़ी से निकला धुआँ तक इन्हें अपवित्तर लगता है।"⁵ सामाजिक छुआछूत का चक्कर न सिर्फ गाँवों में ही है बल्कि शहरों में भी अपनी तथाकथित सभ्यता के साथ व्याप्त है। 'परिशिष्ट' उपन्यास का बावनराम जब अनुकूल के साथ चौधरी साहब के घर जाता है तो वहाँ मेहमानों वाले कमरे में एम.पी. की पत्नी उन्हें जाति का अहसास दिलाती हुई छिंटाकसी करती है — "धरम—करम कुछ रहा ही नहीं। जो आता है बरतनों में खाता है, कपड़ों में बैठता है।"⁶

संस्कारों की जकड़न और जातिभेद की घृणा की जड़ें कितनी गहरी होती हैं यह 'अपने सलीबे' की नीलिमा से हमें पता चलता है। नीलिमा स्वयं अपनी इच्छा से ईशू से विवाह करती है परन्तु बाद में ईशू की जाति मालूम पड़ने पर अलग हो जाती है यानि पति—पत्नी के बीच की सारी मुहब्बत सारी अंतरंगता एक झटके में टूटकर खत्म हो जाती है। ईशू की जाति की सच्चाई बयान करते हुए नीलिमा माँ से कहती है — "उसने धोखा दिया मुझे। बहुत बड़ा धोखा दिया। सिर्फ मुझे नहीं, हम दोनों को झूठ बोला उसने। वह हमारे बराबर का नहीं अम्माँ! वह ठाकुर नहीं है लेकिन वह ब्राह्मण भी नहीं है। वह बहुत छोटे लोगों में से है। वह उन लोगों में से है जिनके हाथ का पानी तुम गाँव में शायद आज भी न पी सको। उसने हमेशा हमें धोखे में रखा अम्माँ...।"⁷

शोषण सिर्फ समाज के बड़े लोग और साहूकार ही नहीं करते बल्कि पुलिस जो समाज की सुरक्षा की जिम्मेदारी अपने कंधे पर लेती है, वह भी शोषण करने में किसी से कम नहीं है। पुलिस जब असली अपराधी को पकड़ नहीं पाती है, तो खानापूति करने के लिए इन्हीं लोगों को पकड़कर जेल में बंद कर देती है। 'धार' उपन्यास में मंगर भी इसी सच्चाई को बयान करता है — "..... जेल गया, छूटा, फिर जेल! पुलिस असली अपराधी को न पकड़ पाती या पकड़ना न चाहती तो उसे खानापूति में डाल देती। इस तरह उसका व्यक्तित्व गल—गलकर स्थानापन्न बनता रहा — चोरों, जेबकतरों, गुण्डों, बलात्कारियों का।"⁸

जब जेल में कोई न हो तो उस समय गरीबों की बस्ती पर हमला किया जाता है और दो—चार लोगों को उठाकर जेल में भर दिया जाता है। इसके साथ—साथ बस्ती में इस कदर लूटमार की जाती है कि जिंदा रहने वाले सोचने पर मजबूर हो जाते हैं कि हम जिंदा रहने पर खुशी मनाए या मरने वालों के लिए दुख प्रकट करें क्योंकि यह शोषण हर सीमा पार कर देता। पुलिस इन दीन—हीन लाचार, बेकसूर लोगों को जेल में डालकर उन पर ऐसा अत्याचार, अन्याय करती है, जो बतलाने योग्य भी नहीं होता। ऐसे ही अत्याचार से पीड़ित 'अल्माकबूतरी' उपन्यास का भीखम कहता है — "नहीं। मैं नहीं जाऊँगा। सिपाही पकड़ ले जाएँगे। एक बार नहीं, दो बार थाने जा चुका हूँ। बर्तन—भाँड़े धुलवा लें। मालिश करा लें। पर वे तो ऐसा काम करते हैं कि चौपाये की तरह

खड़ा कर देते हैं और फिर हमला..... लौटकर आया था, तब कैसा हाल था, याद है ?”¹⁰

इस तरह वर्णव्यवस्था और गरीबी के चक्रव्यूह में फंसकर उनका जीवन नष्ट हो जाता है। ‘मुक्तिपर्व’ उपन्यास में लेखक दलितों की इसी स्थिति के बारे में बताते हैं— “.....उसी गरीबी से लड़ते-लड़ते कभी वे जीवन की लड़ाई भी हार जाते थे। बचपन कब खत्म हुआ और कब जवानी आई कुछ पता ही न चलता था।”¹¹

वर्णव्यवस्था के कारण जन्म से ही गरीबी भोगने के लिए विवश दलित समाज के लोग, साथ-साथ प्रशासन के अन्याय का शिकार होते रहे। समाज और प्रशासन की मिलीभगत के कारण दलित हाहाकार हो उठते। इस तरह हम देखते हैं नवें के दशक के हिन्दी उपन्यासों में वर्ण-विषमता के उदाहरण भरे हुए हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि दलितों की सबसे बड़ी सामाजिक समस्या छुआछूत की है। गरीबी से निपटा जा सकता है पर जाति के कारण मिलने वाले अपमानजनक प्रताड़नाओं को झेलना दुष्कर है।

सदियों से दलितों ने जो सामाजिक उत्पीड़न सहा है, विषमताएँ झेली हैं, भेदभाव और शोषण ने उनके मस्तिष्क पर जो गहरी रेखाएँ खींची हैं वह सामन्ती व्यवस्था, ब्राह्मणवादी सामाजिक संरचना की देन है। सामन्त, राजा और पुरोहित वर्ग धर्म और जातियों की आड़ में दलितों को गुमराह करते थे। अशिक्षा, गरीबी और बेरोजगारी का पूरा फायदा उठाकर वे जनसाधारण का शोषण करते थे। भले-ही उनकी परछाईं से वे दूर रहते थे, उन्हें देखना वे अपशकुन मानते थे। इन सबके बावजूद सामन्ती वर्ग को मेहनतकश व्यक्ति और वह भी ‘दलित’ इनकी मोल-मजदूरी करने के लिए अति-आवश्यकता पड़ती थी। सामन्त वर्ग की हमेशा दलित वर्ग से यही अपेक्षा रहती थी कि वे मूक बनकर दिन-रात जी-तोड़ मेहनत करते रहें और बदले में कभी कुछ माँग न करें। दलित वर्ग के लोगों को अपना गुलाम बनाकर रखना और उनकी अस्मिता को तार-तार करना ये सामन्त वर्ग अपना पैदाइशी हक समझते थे। अपनी जाति के जुनून में वे आदमी को जानवरों की पंक्ति में खड़ा कर देते थे। नवाब साहब जैसे लोग दलितों को किस प्रकार जानवरों से भी गए बीते मानते थे इसका वर्णन ‘मुक्तिपर्व’ उपन्यास में मिलता है — “वे तरह-तरह से उन पर अपना गुस्सा हल्का करते थे। गालियों तक ही सीमित न रहते, उन पर हाथ भी उठा देते। मारने-पीटने में उन्हें जरा भी हिचकिचाहट न होती थी। दलितों को वे अपनी रियाया ही समझते थे जैसे खूँटे से जानवर को बाँध दिया जैसे ही आदमी को भी।”¹² स्वर्ण समाज यह कभी नहीं चाहता है कि दलित समाज के लोग शिक्षित हों तथा अपना विकास करें। अगर उन्होंने ऐसा किया तो स्वर्ण समाज के हाथों गुलामों की फौज खत्म हो जायेगी। इसीलिए मुक्तिपर्व के अजय शर्मा जैसे स्वर्ण यह कभी नहीं चाहते कि दलित भी शिक्षा ग्रहण करें। अजय शर्मा के शब्दों में — “अरे भइया, अब तो तेली-तमोली और ढेढ़ चमार के बच्चे भी पढ़ने लगे हैं।”¹³ इसी क्रम में आगे बढ़ते हुए जब करतार भंगी अपने बेटे उछाल सिंह का स्कूल में दाखिला कराना चाहता है तो स्वर्ण समाज के ठेकेदार करतार को झिड़की देते हुए कहते हैं — “तेरा बच्चा पढ़ जागगा तो फिर झाड़ू कौन लगाएगा इस स्कूल में।”¹⁴

दलित जातियों द्वारा शिक्षा ग्रहण करने का प्रभाव स्वर्णों को किस तरह प्रभावित कर सकता है यह ‘चतुरंग’ उपन्यास में चौधरी मंगलसिंह बैठक में कहते हैं — “क्या बोलूँ चौधरी साहब। आज इस बालक ने किया है। कल ये चमार-भंगी हमारे साथ ये सब हरकते करेंगे। मैं तो प्राइमरी के बाद इन्हें

स्कूल में दाखिला दिये जाने के पक्ष में ही नहीं था। मुझे मालूम था कि जरा-सा पढ़े लिखे नहीं कि ससुरों के दिमाग खराब हो जाते हैं।”¹⁵ स्वर्ण लोग दलितों के शिक्षित होने से तो परेशान है ही साथ ही उन्हें यह भी परेशानी सताये जा रही है कि दलित पढ़-लिखकर कहीं समानता के लिए न खड़े हो जाएं। साथ-ही वे इस बात से भी चिंतित हैं कि कल चमारों के बच्चे पढ़-लिखकर आगे बढ़ गए तो मेहनत-मजदूरी का काम कौन करेगा....? ‘चतुरंग’ उपन्यास का सुखदेव भी ऐसा-ही कुछ कहता है — “.....सबसे बड़ी बात यह है कि इन चमारों और जाटवों के बच्चों को आगे बढ़ने का भविष्य में कितना खराब असर पड़ेगा। मेहनत, मजदूरी तो करना दूर, सड़क पर खुलेआम अनादर करेंगे हमारा.....। वैसे ही हालत आप देख रहे हो.....। अभी तो एक गुलजार है फिर जाटवों में भी कई गुलजार पैदा हो जायेंगे। तब सोचो क्या होगा ?”¹⁶ वास्तव में यह निर्णय कर पाना कठिन है कि सामन्ती व्यवस्था की देन वर्णव्यवस्था है या वर्णव्यवस्था का शिकार तो होता है मात्र ‘दलित’। जिसके जीने के सारे अधिकार छीने जाने पर तुली रहती है सामन्ती व्यवस्था।

हजारों वर्ष की प्रताड़ना, शोषण, द्वेष, वैमनस्य और भेदभाव से दबा ‘दलित’ व्यक्तिगत तथा सामाजिक स्तर पर अकेला हो चुका था। ऐसे में हमारे देश के ज्योतिबा फुले और अन्य समाज-सुधारकों ने दलितों के उद्धार हेतु काफी संघर्ष किया और यही संघर्ष बाबासाहेब अम्बेदकर ने शिखर पर पहुँचा दिया। इसी प्रक्रिया के दौरान ही दलितों में अस्मिता जगने लगी और इसी कारण अपने अस्तित्व को अर्थ कैसे दिया जाए, ‘मैं कौन हूँ ? मेरी पहचान क्या है ?’ यह प्रश्न उनके मन में उठने लगे। अपने अस्तित्व और अस्मिता को स्थापित करने के लिए वह छटपटाने लगा है। आजादी के बाद भी उसकी यह छटपटाहट बरकरार है। अब वह अपने आपको अपनी जाति और व्यवसाय के माध्यम से ही नहीं जानता बल्कि अपनी एक स्वतंत्र पहचान बनाना चाहता है। इस अहसास ने उनमें एक वैचारिक-क्रांति ला दी है। ‘परिशिष्ट’ उपन्यास में बावनराम हमारे सामने ऐसे ही क्रांतिकारी विचार लेकर आते हैं। वह उन लोगों में नहीं है जो यह मानते आए हैं कि बाप का पुश्तैनी काम बेटे को करना ही होगा, वह खुद भी पारंपरिक धंधा छोड़कर फ़ैक्ट्री में नौकरी करता है, उसकी इच्छा है कि उसका बेटा पढ़-लिखकर कुछ बनकर दिखाए ताकि समाज यह सीख ले कि ये सिर्फ मरे हुए ढोरो की खिदमत के लिए ही नहीं जन्मे हैं। बावनराम अपने बेटे से कहता है — “मैं चाहता हूँ कि तुम एक दिन अपनी कार से आकर घर के सामने उतरों।..... जिससे लोग यह तो देखें कि हम लोगों की सन्तान भी कारों और मोटरों में बैठकर चलने के लिए पैदा होती है। हम छोटे हैं, क्योंकि हम हिम्मत हारकर, यह मान लेते हैं कि हम छोटे हैं और छोटे ही रहेंगे। अपने जमाने में मैंने गाँव का पुश्तैनी काम त्यागकर फ़ैक्ट्री की नौकरी यही बताने के लिए की थी कि हम लोग गाँव के मरे हुए ढोरो की खिदमत के लिए ही नहीं बने, हम फ़ैक्ट्रियों में भी काम कर सकते हैं।”¹⁷ इस तरह वह अपने अस्तित्व को स्थापित करते हुए समाज की भोगवादी संस्कृति से जुड़ना चाहता है।

‘अपनी सलीबें’ के इशू में भी एक अलग चेतना पनप रही है। वह अपने स्वयं के कर्मों का जिम्मेदार है अपने जन्म का कतई नहीं। — “उसने अपने हर कदम के लिए चट्टान तोड़ी थी। सिर्फ इसलिए कि ऐसे माँ-बाप से जन्मा था जिन्हें छू भर लेने से लोग इंसान नहीं रह पाते। ऐसे माँ-बाप उसे इस दुनियाँ में लाए थे जिनके हिस्से में समाज अपनी जूठन और तलछट ही फेंकता है। ईशू सिर्फ अपने खुद के किए का जिम्मेदार

था। अपने जन्म का कतई नहीं जिस बात का जिम्मेदार वह खुद नहीं उसके लिए उसकी जवाबदेही कैसी....." 18
आजादी के बाद दलितों में अपने अधिकारों के प्रति चेतना जागृत हुई है, गाली देने पर उनकी आँखों में लाली दौड़ने लगती थी। ताबेदारी करते-करते उनमें भी ताव आने लगा था। हम भी इन्सान हैं अपनी इस पहचान से वह वाकिफ हो गए थे। 'मुक्तिपर्व' उपन्यास के नवाबसाहब जब बंसी से उसके बेटे को हवेली पर काम करने के लिए कहते हैं तो एक पल की भी देरी न करते हुए तुरंत जवाब देता है – "नवाब साहब, न अब मैं किसी की गुलामी करूँगा और न मेरा बच्चा।
.मुझे गुलाम बने रहने की आदत नहीं नवाब साहब। वैसे भी देश अब आजाद हो गया है। अब न कोई किसी का गुलाम है और न कोई किसी का मालिक। सब बराबर हैं।" 19 "वे अब मिट्टी का ढेला नहीं रहे थे कि कहीं से उटाकर उन्हें कहीं भी फेंक दिया जाए।" 20

अब वे भी अपने आपको एक आजाद देश का आजाद नागरिक मानते हैं। बंसी विचारों की इसी उहापोह से गुजरता है और इस अलिखित गुलामी से आजाद होने के लिए उसकी मानसिक छटपटाहट भी उनकी आजादी पर प्रश्नचिन्ह लगाती है— "लोगों को दुःख होता है हमारी आजादी से। पशु-पक्षियों की आजादी उन्हें भाती है। चिड़ियों को वे पिंजरे से मुक्त कर देते हैं, पर हमारी मुक्ति के सवाल पर वे चुप्पी साध लेते हैं। हम स्वयं कुछ कहें तो हमें आँखे दिखाते हैं, हम पर आगबबूला हो बरसते हैं। जैसे हम काठ के हों। हमारे भीतर संवेदनाएँ ही न हो। हमारे जिस्म में खून ही नहीं बहता हो। हम कोई मुर्दा हैं। अब हम गुलाम तो नहीं।" 21 "एक पिता होने के नाते बंसी बार-बार यही सोचता था कि आखिर उनके ही साथ यह सब क्यों होता है ? आजादी के बाद भी क्यों लोग जातियों की बात करते हैं। एक-दूसरे को छोटा-बड़ा समझते हैं। जात-पाँत, छुआछूत का आखिर अंत कब होगा!" 22

'परिशिष्ट' उपन्यास का बावनराम गांधी और अंबेडकर के उदाहरण देकर अपने बेटे अनुकूल में भी इसी अस्मिता की खोज की शक्ति के बीज बोने की कोशिश करता है— "नहीं भैया, हिम्मत न हारो। अपने पुरखों को देखो। हजारों साल सन्तानहीन पितरों की तरह अपमान के कुएँ में उल्टे लटक रहे..... कोई आयेगा जो उद्धार करेगा, सम्मान दिलायेगा। गाँधी और अम्बेदकर बाबा आये..... लेकिन और लोगों को भी तो आगे आना है। वे तो आकर चले गये हैं।" 23 तुम्हें अपने को, अपने लोगों को और उन सब लोगों को जो हमारे जैसी किस्मत लेकर पैदा हुए हैं..... राह दिखानी है।" 24

निष्कर्ष

इस तरह देश के समाज सुधारक आंदोलन से उपजा दलितों का अस्तित्व संघर्ष लगातार अपनी अस्मिता की खोज में कार्यरत है और एक-न-एक दिन वह अपने इस लक्ष्य को पूरी तरह पाकर रहेगा। यह संकुचित सामंती दृष्टिकोण था कि सारे अच्छे गुणों और उपलब्धियों पर केवल उनका ही एकाधिकार था। यहाँ तक कि ईश्वर प्रदत्त वीरता, बहादुरी आदि पर भी उनका ही हक था और इसीलिए किसी 'दलित' की बहादुरी को वे स्वीकार नहीं कर पाते।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. प्रेम कपाड़िया 'मिट्टी की सौगंध' पृ0 14
2. मैत्रेयी पुष्पा 'अल्मा कबूतरी' पृ0 48
3. मोहनदास नैमिशराय 'वीरांगना झलकारी बाई' पृ0 51

4. यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' 'हजार घोड़ों का सवार' पृ0 21
5. मोहनदास नैमिशराय 'मुक्तिपर्व' पृ0 31
6. गिरिराज किशोर 'यथाप्रस्तावित, अष्टाचक्र-2 पृ0 247
7. गिरिराज किशोर 'परिशिष्ट' पृ0 50
8. नमिता सिंह 'अपनी सलीबें' पृ0 216-217
9. संजीव 'धार' पृ0 47
10. मैत्रेयी पुष्पा 'अल्मा कबूतरी' पृ0 45
11. मोहनदास नैमिशराय 'मुक्तिपर्व' पृ0 43
12. मोहनदास नैमिशराय 'मुक्तिपर्व' पृ0 21
13. मोहनदास नैमिशराय 'मुक्तिपर्व' पृ0 15
14. मोहनदास नैमिशराय 'मुक्तिपर्व' पृ0 17
15. शैलेन्द्र सागर 'चतुरंग' पृ0 47
16. शैलेन्द्र सागर 'चतुरंग' पृ0 141
17. गिरिराज किशोर 'परिशिष्ट' पृ0 13
18. नमिता सिंह 'अपनी सलीबें' पृ0 175
19. मोहनदास नैमिशराय 'मुक्तिपर्व' पृ0 37
20. मोहनदास नैमिशराय 'मुक्तिपर्व' पृ0 37
21. मोहनदास नैमिशराय 'मुक्तिपर्व' पृ0 64
22. मोहनदास नैमिशराय 'मुक्तिपर्व' पृ0 63
23. गिरिराज किशोर 'परिशिष्ट' पृ0 52
24. गिरिराज किशोर 'परिशिष्ट' पृ0 53